वैदिक संस्कृति में तप की महत्ता एवं उपादेयता

*****

*डॉ. सुनिता इंदोरिया

सारांशिका

भारतीय संस्कृति में तप का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। मानव–जीवन से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का समाधान और अनेक कठिनतम कार्यों की सिद्धि तप के द्वारा ही मानी गई है। परमेश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण तप द्वारा ही किया है। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आदि वर्णों के लिए तप एक आवश्यक कृत्य माना गया है। गीता के अनुसार तप ऐसा कार्य है, जो सबके लिए अवश्य करणीय है। तप से ही स्वर्ग एवं यश की प्राप्ति होती है। राजा राष्ट्र की रक्षा तप के द्वारा करता है। जीवन में लक्ष्मी की स्थिरता का आधार भी तप ही है। तप एक सात्त्विक गुण है।

योग दर्शन में तप को 'क्रियायोग' के रूप में मान्यता दी गई है। अनेक सिद्धियों की प्राप्ति तप द्वारा सम्भव है। ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय ये महान् तप हैं। गीता में तप के शारीरिक, वाचिक व मानसिक इस प्रकार तीन भेद माने गये हैं। सभी वर्णों के जो कर्त्तव्य निर्धारित है, उन्हें भी तप की श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार जीवन के सभी क्षेत्रों में तप की महत्ता व उपादेयता सिद्ध होती हैं।

सम्बद्ध शब्द : *तप, तपश्चर्या, योगसाधना, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय।*

***सहायक आचार्य,** जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूं 341306 (राजस्थान)

भूमिका

तप जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ है। भारतीय आचार्यों का अभिमत था कि आध्यात्मिक उन्नति का जहां आरम्भ होता है, वहीं आधिभौतिक सुखों का अन्त हो जाना चाहिए। शरीर को जीवित मात्र रखने के लिए भोजन, वस्त्र, आवासादि साधन हो सकते हैं, किन्तु भोग–वासनाओं से ऊपर उठने के लिए शरीर को तपाना पड़ता है। प्रायः सुख के प्रति अनासक्ति व शारीरिक कष्ट को सहन करने की प्रक्रिया को तप का साधन माना गया है। इस दृष्टि से तप का लक्षण किया गया है– इच्छानिरोधस्तपः, अर्थात् इच्छाओं का निरोध तप है।

शास्त्रों में तप का माहात्म्य

वेदों, मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों में तप की महिमा का गुणगान किया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सभी लोग तप द्वारा तपस्वी बनें।[1] तप की महिमा को बताते हुए कहा गया है कि तप के कारण व्यक्ति उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जहां उसे कोई परास्त नहीं कर सकता है। तप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, जो तप करते हैं, देव या परमात्मा उन्हें भी प्राप्त होते हैं।[2] देवों ने ब्रह्मचर्य तप के द्वारा ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की है।[3] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि तप के द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[4]

मनुस्मृति में कहा गया है कि फल, मूल तथा वायु का ही आहार ग्रहण करने वाले ऋषिगण तप के द्वारा ही सचराचर अर्थात् तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते हैं। औषधि, आरोग्य, विद्या और विविध लोकों की स्थिति तप के द्वारा ही प्राप्त होती हैं और तप ही उनकी प्राप्ति का साधन है। तप से समर्थ होकर ही ब्रह्मा ने शास्त्रों की रचना की, तथा तप से ही ऋषियों ने वेदों को प्राप्त किया।[5]

महाभारत के शांति पर्व (161 वें अध्याय) में तप की महिमा इस प्रकार बताई गई है– इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तपस्या नहीं की है, उसे अपने शुभ कर्मों का फल नहीं मिलता है। संसार में जो कुछ दुर्लभ वस्तु है, वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है। इस संसार में धार्मिक पुरूष स्वर्ग के साधनभूत धर्म की रक्षा के लिए इन्द्रियों को संयमशील बनाये रखते है, परन्तु धर्म और अर्थ दोनों की सिद्धि के लिए तप ही श्रेष्ठ साधन हैं। ये जो पृथक्–पृथक् अभीष्ट फल कहे गये हैं, वे सब सदा तपस्या से ही सुलभ होते हैं। तपस्या से निश्चय ही देवत्व को भी प्राप्त किया जा सकता है।[6]

तप से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और तप से ही यश की प्राप्ति होती है।[7] महाभारत के आदि पर्व[8] में स्वर्ग के सात द्वार बताये गये हैं, जिनमें पहला

द्वार तप बताया गया है। तप के माहात्म्य को स्पष्ट करने वाले कुछ अन्य शास्त्रीय वचन निम्नतः इस प्रकार मननीय हैं–

- 'तपो मे प्रतिष्ठा' (तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/7/70) अर्थात् तप ही मेरी प्रतिष्ठा है।
- 'श्रेष्ठो वेदस्तपसोऽधिजातः' (गोपथ ब्राह्मण 1/1/9)
  अर्थात् श्रेष्ठ और परम ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट होता है।
- 'योऽसौ तपसि स वै शंसति' (गोपथ ब्राह्मण 2/5/15)
  अर्थात् जो तपता है तथा अपने कर्त्तव्य में संलग्न रहता है, वह संसार में सर्वत्र यश को प्राप्त करता है।
- सामवेद में कहा है–'नियायिनस्तपसा रक्षसो दह' (सामवेद पूर्वर्चिक 1/11/10)
  तपस् व तेज के द्वारा देवताओं ने दुष्ट और धूर्त राक्षसों को जीत लिया। अर्थात् तप के प्रभाव से ही देवता विजय को प्राप्त हुए।
- 'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा' (केनोपनिषद् 4/18)

  अर्थात् तप, दम (इन्द्रिय निग्रह) और सत्कर्म इन तीनों पर आत्मज्ञान का मूल आधार टिका हुआ है।

धर्म के समस्त अंगों को तप मानते हुए कहा गया है–

- ऋृतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दानं तपः। (तैत्तिरीय आरण्यक 10/8)
  अर्थात् ऋत (मन का सत्य संकल्प) तप है, सत्य (वचन–यथार्थ भाषण) तप है, श्रुत (शास्त्र श्रवण) तप है, शान्ति (इन्द्रिय–विषयों से विरक्ति–वैराग्य) तप है और दान तप है। अर्थात् धर्म के समस्त अंग तप ही हैं।
- 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' (मुण्डक उपनिषद 3/1/5)

अर्थात् यह आत्मा सत्य और तप के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् तप के द्वारा ही आत्मदर्शन व आत्मस्वरूप की प्राप्ति संभव है।

तप से ही सृष्टि का निर्माण

वेद में बताया गया है कि सृष्टि के पहले प्रलय की अवस्था में यह जगत् अन्धकार से आच्छादित था और यह जगत् अपने तमस् रूप मूल कारण में विद्यमान था। अज्ञायमान यह सम्पूर्ण जगत् उस समय सलिल रूप में था। यह जो जगत् व्यापक एवं तुच्छ अभाव रूप अज्ञान से आच्छादित था, तो वह कारण के साथ मिला हुआ जगत् ईश्वर के संकल्प रूप तप की महिमा से उत्पन्न हुआ।[9]

तैत्तिरीय आरण्यक[10] एवं तैतिरीय ब्राह्मण[11] के अनुसार प्रजापति ने तप किया और तप के माहात्म्य से इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की। तप के दिव्य प्रभाव से पहले धुआं उत्पन्न हुआ। पुनः तप किया, जिसके प्रभाव से दिव्य ज्योति प्रकट हुई और पुनः तप किया, जिससे ज्वाला प्रकट हुई। क्रमशः तप करने से ज्वाला का दिव्य प्रकाश चारों और फैलने लगा। इनके पश्चात् क्रम रूप में समुद्र और अन्य सम्पूर्ण सृष्टि की रचना सम्पन्न हुई।

मनुस्मृति के अनुसार विराट् पुरुष ने तप करके सृष्टि की रचना प्रारम्भ की। सर्वप्रथम उसने प्रजाओं के पति दस महर्षियों को उत्पन्न किया जिनके नाम हैं– मारीच, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु व नारद। इन मुनियो ने सात मनु, देवों के निवास स्थान आदि की रचना की। तदनन्तर यक्ष, राक्षस, पिशाच, असुर, नाग, पितरों के अलग–अलग गणों की रचना हुई। विद्युत, मेघ, इन्द्रधनुष, तारे, नक्षत्र इनकी भी रचना हुई। विराट् पुरुष की आज्ञा से इन महात्माओं ने तपोयोग द्वारा कर्मानुसार स्थावर, जंगम प्राणियों की रचना की।[12]

महाभारत के अनुसार प्रजापति ने तप से ही संसार की सृष्टि की। संसार में तप से ही फल, मूल, अन्न आदि को उत्पन्न किया गया।[13] इस प्रकार शास्त्रों के सम्पूर्ण सृष्टि की रचना में तप की उपयोगिता निरूपित की गई है।

जीवन के विविध क्षेत्रों में तप की उपादेयता

कोई राजा राष्ट्र की रक्षा के उत्तरदायित्व को वहन करता है, वह भी ब्रह्मचर्य एवं तप की अचिन्त्य शक्ति के बल पर करता है।[14] कोई कन्या अपने अनुकूल युवा पति को ब्रह्मचर्य तप के आधार पर ही प्राप्त करती है।[15] लक्ष्मी व समृद्धि की स्थिरता भी तप से संभव हो पाती है।[16] ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदाभ्यास एवं विद्यार्जन किया जाता है, वह सब तप है।[17] माता–पिता एवं गुरूजनों की सेवा को भी तप कहा गया है।[18]

सभी वर्णों में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, उसकी श्रेष्ठता का आधार उसकी तपश्चर्या भी है। गीता के अनुसार तप ब्राह्मण का एक स्वाभाविक गुण है।[19] मनुस्मृति के अनुसार तप एक सात्त्विक गुण है, जो मनुष्य को ऊपर उठाता है।[20] तप उन कर्मों में परिगणित है, जिन्हें छोड़ा नही जा सकता।[21]

योग साधना में तप

योगसूत्र में तप को स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान के समान 'क्रियायोग' के रूप में माना गया है।[22] तप से अनेक सिद्धियां (अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राकाम्य वशित्व, ईशित्व, कामावसायित्व) प्राप्त हो सकती है।[23]

इन अष्टसिद्धियों का स्वरूप इस प्रकार है–

1. **अणिमा**– अणिमा शब्द का अर्थ है– अणुत्व अर्थात् छोटापना। इस सिद्धि के द्वारा शरीर को परमाणु रूप बनाया जा सकता है, अर्थात् कमलतन्तु के छिद्र में भी प्रवेश किया जा सकता है।
2. **लघिमा**– लघिमा का अर्थ है–अत्यन्त कम भार का हो जाना, अर्थात् रूई के पिण्ड समान या वायु की तरह हल्का बनाया जा सकता है।
3. **महिमा**– यह सिद्धि अणिमा से विपरीत है, अर्थात् अपने शरीर को विशालतम मेरु के समान बनाया जा सकता है।
4. **गरिमा**– इस सिद्धि से 'गुरुत्व' की प्राप्ति की जा सकती है। जिसके द्वारा अंगुली के अग्रभाग से दूरस्थ चन्द्र आदि को भी स्पर्श करने की शक्ति उत्पन्न होती है। इससे वज्र से भी अधिक गुरुतायुक्त शरीर को बनाया जा सकता है।
5. **प्राकाम्य**– इस सिद्धि से अपनी इच्छाओं की पूर्ति की जा सकती है। इच्छानुसार चाहे जिस तरह भूमि या जल पर चलने के सामर्थ्य–विशेष को प्राकाम्य सिद्धि कहते हैं।
6. **वशित्व**– इस सिद्धि से पंचभौतिक पदार्थों पर अपना अधिकार कर लेना या अपने वश में अधीन कर लेना संभव होता है, अर्थात् जिस सिद्धि के तपोबल से जीव समूह वश में होते हैं, वह वशित्व सिद्धि कही जाती है।
7. **ईशित्व**– इस सिद्धि के द्वारा शरीर तथा अन्तःकरण का ईश्वरत्व प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से योगी अपने शरीर व अन्तःकरण को वश में करके ईश्वर के समान समस्त पदार्थो की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय में समर्थ हो जाता है।
8. **कामावसायित्व**– जिस विषय में भी योगी की कामना या इच्छा पैदा हो, उस विषय का निर्णय हो जाना, अर्थात् उसे प्राप्त कर लेना इस सिद्धि का कार्य है।

वाल्मीकि रामायण में मुनियों द्वारा तपश्चर्या किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है। उस काल में यज्ञ की भांति तप के लिए नियत अवधि होती थी, उस अवधि के समाप्त होने पर तपस्वी वैसे ही स्नान करते थे, जैसे ब्रह्मचारी अध्ययन समाप्त कर लेने पर स्नातक बनते समय।[24] उस समय में कभी–कभी घोर तपस्या भी की जाती थी। विश्वामित्र की घोर तपस्या का परिचय रामायण के इस श्लोक द्वारा मिलता है–

ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन्।
धर्मे पंचतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः।।

शिशिरे सलिलेशायी रात्र्यहानि तपोधनः।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत्।।[25]

अर्थात् विश्वामित्र ने बिना कोई अवलम्ब लिए, केवल वायु पीकर ही जीते हुए तथा धूप में पंचाग्नि का सेवन करते हुए, वर्षा में खुले आकाश के नीचे रहकर शिशिर में दिन–रात पानी में स्थित रहकर तपस्या की। यह तपस्या उन्होंने एक हजार वर्षों तक की।

तप का इतना प्रभाव माना गया है कि तपस्वी दूर–दूर की वस्तुओं को इन्द्रिय से परे होने पर भी जान लेते थे। तप के द्वारा आत्मज्ञान होता था। ऐसे आत्मज्ञानी तपस्वियों को 'भावितात्मा' कहा जाता था। मुनि के तपोमय जीवन की उच्चता से उस समय के लोग अत्यधिक प्रभावित होते थे।

तप के भेद

तप के स्वरूप और उसके उद्देश्य को दृष्टि में रखकर गीता में तप के तीन–तीन भेद बताये गये हैं। वहां शारीरिक तप, वाचिक तप, मानसिक तप को विवेचित करते हुए कहा गया है–

देवद्विज–गुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा व शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च तत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।26

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरूजन एवं ज्ञानी जनों का आदर सत्कार करना, उनकी सेवा करना, शौच–शरीर एवं आचरण को पवित्र रखना, सरल व्यवहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा किसी जीव को कष्ट नहीं देना–यह 'शारीरिक' तप है। दूसरों को उद्विग्न– कष्ट न देने वाला, शांतिकारक, सत्य, प्रिय, हितकर वचन बोलना, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं अध्ययन करना–यह वाचिक तप है। मन की प्रसन्नता, सौम्य–भाव, मौन, मननशीलता, संयम और अन्तःकरण की शुद्धि– यह 'मन' (मानसिक) तप कहा जाता है।

उपर्युक्त निरूपण के आधार पर शारीरिक, वाचिक व मानसिक तप में निम्नलिखित कार्य परिगणित किए गए है–

1. शारीरिक तप – 1. देवादिपूजा, 2. शौच,
3. आर्जव, 4. ब्रह्मचर्य, 5. अहिंसा।

2. वाचिक तप– 1. सत्य, 2. स्वाध्याय।
3. मानसिक– 1. मनःप्रसन्नता, 2. सौम्यता, 3. मौन, 4. आत्मनिग्रह, 5. भावशुद्धि।

उक्त शारीरिक तपों का विशेष विवरण इस प्रकार ज्ञातव्य है–

शारीरिक तप

1. देवादि पूजा :- इस तप में देव, ब्राह्मण, गुरू और ज्ञानी–इनका पूजन शारीरिक तप है। इनकी पूजा से तात्पर्य है कि उनके प्रति श्रद्धाभाव, विनयभाव तथा पूज्यभाव रखना। गीता में कहा गया है कि जो जिसके प्रति श्रद्धाभाव रखता है, वह तद्रूप (तन्मय) हो जाता है।[27] देव, ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं। मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।[28] वह धर्म की मूर्ति व धर्म का ईश्वर है।[29] गुरू या आचार्य ब्रह्ममूर्ति एवं माता–पिता के समान होते हैं।[30] इन सभी श्रेष्ठ व्यक्तित्वों के प्रति श्रद्धाभाव रखने से व्यक्ति को श्रेष्ठता प्राप्त होती है। इन सब की आराधना करना वस्तुतः तपस्या माना गया है।

2. शौचः - शौच का अर्थ है– आर्थिक भावशुद्धि। अर्थात् लोभ आदि भावों से रहित होना। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा गया है कि मिट्टी व जल से शुद्धि प्राप्त करने वाला शुद्ध नही, अपितु जो रूपये–पैसों आदि के मामलों में शुद्ध है, वही शुद्ध है।[31] यहां यह ज्ञातव्य है कि शौच (शुद्धि) दो प्रकार की होती है– 1. शारीरिक, 2. मानसिक। तीर्थ स्नान आदि करके शारीरिक शुद्धि कर सकते हैं, किन्तु मानसिक शुद्धि के लिए निर्लोभता अत्यावश्यक है। इसकी साधना अत्यन्त मानसिक संयमपूर्वक ही हो सकती है। इसलिए यह तप की कोटी में परिगणित है।

3. आर्जव :- ऋजुता अर्थात् सरलता का भाव ही आर्जव है। आर्जव से युक्त व्यक्ति 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मन्येकं महात्मनाम्' इस उक्ति को चरितार्थ करता है। सज्जन व दुर्जन की भेदक रेखा आर्जव है, अर्थात् सत्पुरुष की पहचान उसकी सरलता से होती है। अपने अन्दर माया, कपट के भाव न आने देना, यह अत्यन्त कठिन कार्य है। अतः इसे भी तप में गिना गया है।

4. ब्रह्मचर्य :- तप साधना में ब्रह्मचर्य का पालन अत्यावश्यक है। स्वयं को काम वासना के दुष्प्रभाव से बचाए रखना, आत्मसाधना में रमण करना, ब्रह्मविद्या का अध्ययन करना, ये कार्य ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत माने जाते हैं। अर्थर्ववेद में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य से तेज, धृति, साहस और विद्या की उपलब्धि होती है। वह शक्ति का स्रोत है। उससे मन में बल, साहस, निर्भयता, प्रसन्नता और शरीर में अपूर्व तेजस्विता आती है।[32]

जो व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मन–वचन–काया से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस तेजस्वी व्यक्ति के लिए इस जगत् में कोई भी वस्तु अप्राप्य अशक्य नहीं हैं।[33] ब्रह्मचर्य की साधना वासना–विजय की साधना है। मानव एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर उग्र तप की साधना कर सकता है। जब व्यक्ति इन्द्रियों का सतत कठोर दमन करके ऊर्ध्वरेता बन जाता है, उस सत्यनिष्ठ ब्रह्मचारी की इच्छानुसार सारे कार्य होते हैं। ऐसा पुरुष इच्छागामी हो जाता है, इसके लिए कोई कार्य दुर्गम नहीं रहता है। वह ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर विद्यार्थी को अनेक वर्षों तक गुरू के पास विद्याध्ययन करना होता है। ब्रह्मचारी का जीवन पूर्णतः संयममय होता है। ब्रह्मचर्याश्रमोचित कर्त्तव्यों का पालन वस्तुतः तपश्चर्या से ही होता है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति में गुरुकुलवास को तप कहा गया है।[34] साथ ही वहीं वेदाभ्यास को भी तप कहा गया है।[35] गुरू की सेवा करना भी तप कहा गया है।[36]

योग दर्शन के अनुसार ब्रह्मचर्य की साधना से अपूर्व मानसिक शक्ति और शरीरबल प्राप्त होता है ।[37] इस दृष्टि से अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन का प्रभाव शरीर और इन्द्रियों पर भी पड़ता है। बुद्धि, मन और इन्द्रियां सूक्ष्मग्राही एवं सक्षम हो जाती हैं, परन्तु इसकी साधना कठिन है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान व जीवन में ब्रह्मचर्य का पालन सामान्यतः दुष्कर तप के रूप में मान्य किये गये हैं।

5. अहिंसाः- अहिंसा परम धर्म तो है ही, इनकी साधना भी परम तप के रूप में स्वीकृत की गई है।[38] मन–वचन–काया से किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भावना न आने देना, उसे पीड़ा न पहुंचाना–यह अहिंसा साधना का व्यापक रूप है। योगसूत्र में बताया गया है–'' अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'[39] अर्थात् अहिंसा का पालन करने वाले योगी में जब यह अहिंसा की भावना दृढ़ स्थिति को प्राप्त कर लेती है, तब उस योगी के समीप में सहज व स्वाभाविक विरोध वाले सर्प–नवेला, गज–सिंह इत्यादि जीव भी वैर व द्वेषभाव को छोड़कर मित्र भाव से विचरण करते हैं।

अहिंसा का साधक सभी से मधुर–वचन व्यवहार रखता है, दुर्भावना रहित होकर मन, वचन की शुद्धि के साथ आचरण करता है। इसलिए वह उत्कृष्ट फल की प्राप्ति करता है। मनुस्मृति में कहा गया है–

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।।
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमनाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।।[40]

अहिंसा की साधना काम, क्रोध आदि मानसिक दुर्वृत्तियों पर नियन्त्रण किये बिना सम्भव नहीं होती। इसलिए इस कठिनतम साधना को तप में गिना गया है।

वाचिक तप

सत्य जो सत् है, वही सत्य है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में कहा गया है जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु को उसी रूप में कहना सत्य है।[41]

सत्य की महिमा शास्त्रों में मुक्त कण्ठ से की गई है 'सत्यं वद' यह उपनिषद् का प्रसिद्ध वचन है। महाभारत में कहा गया है कि सत्य, समता, दम (इन्द्रिय निग्रह), मत्सरता का अभाव, क्षमा–लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनुसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थित रहने वाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा–ये तेरह सद्गुण सत्य के ही स्वरूप है,[42] किन्तु व्यवहार में सत्य भाषण को लेकर आचार्यों का निर्देश है कि यदि सत्य किसी को पीड़ा देने वाला है या अप्रिय प्रतीत होता है तो वह वर्जनीय है। मनुस्मृति में कहा गया है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।[43]

सत्य की उक्त साधना भी कठिन व दुष्कर है, इसलिए यह तप में परिगणित है।

स्वाध्याय

व्याख्याकारों ने मोक्षशास्त्र का अध्ययन तथा प्रणव आदि पवित्र मन्त्रों का जप आदि को स्वाध्याय में परिगणित किया है।[44]

ज्ञान की वृद्धि एवं बुद्धि को सूक्ष्म करने के लिए वेदादि सत् शास्त्रों तथा अन्य प्राचीन व नवीन विद्याओं भाषाओं का अध्ययन करना तथा लोकहित के लिए उनका उपयोग एवं प्रचार करना ही स्वाध्याय है।

वैदिक ग्रन्थों में स्वाध्याय को तप माना गया है।[45] इनकी रचना आराधना से कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए– स्वाध्यायान् मा प्रमादः।[46] आचार्य पतंजलि ने योग दर्शन में स्वाध्याय के फल को बताते हुए कहा– 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः'[47] अर्थात् स्वाध्याय का अभ्यास करने से या स्वाध्याय की दृढ़ स्थिति होने से इष्टदेव का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष दर्शन) होता है। अपने सत् शास्त्रों व अर्थचिन्तन में मन को अनुशासित करना ही स्वाध्याय तप है।

मानसिक तप

मनःप्रसन्नता :- मनःप्रसन्नता को भी तप में गिना गया है। इसमें भी स्थितप्रज्ञता की साधना अपेक्षित है।

सौम्यता :- सौम्यता का अर्थ चन्द्र की तरह आह्लादक हो। अर्थात् उसे देखकर कोई भयभीत न हो, मुख हमेशा सौम्यभाव से युक्त हो। ऐसा तभी संभव है जब काम, क्रोधादि विकार उपशान्त हो जाए। निश्चित ही यह स्थिति विशिष्ट साधना से प्राप्त हो सकती है।

मौन :- मौन का अर्थ है–संकल्प विकल्प की स्थिति का न होना। वह स्थिति जिसमें व्यक्ति वाणी व्यापार से विरत हो जाता है। यह स्थिति भी विशिष्ट साधना के बल से ही प्राप्त होती है।

आत्मनिग्रह :- मन व इन्द्रियों को संयम में रखना ही आत्म निग्रह है। महाभारत में आत्मनिग्रह अर्थात् दम से सम्बन्धित सद्गुण इस प्रकार वर्णित किये गए हैं– क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, संतोष, प्रियवचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना, और दूसरों के दोष न देखना इन सद्गुणों का उदय होना ही दम (आत्मनिग्रह) कहलाता है।

जिसने मन और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, उसमें गुरुजनों के प्रति आदर भाव, समस्त प्राणियों के प्रति दया और किसी की भी चुगली न खाने की प्रवृत्ति होती है। वह जनापवाद, असत्य भाषण, निन्दा, स्तुति की प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जड़ता, डींग हांकना, रोष, ईष्या और दूसरों का अपमान–इन दुर्गुणों का कभी सेवन नहीं करता। इस प्रकार की स्थिति साधना का ही प्रतिफल स्वरूप सिद्ध होती है।

भाव शुद्धि- भाव शुद्धि का अर्थ–मन, वाणी, संयमित हो और शुद्ध हो। मन में दुर्भावनाओं का लेश भी न हो इस भाव शुद्धि से व्यक्ति को दुष्कर लोकोत्तर फल प्राप्त हो जाते है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति में कहा गया है। जिसके मन, वचन पवित्र है और जो सदा भले प्रकार से सुरक्षित है, वह वेदान्त सम्मत फलों को पाता है।[48]

वर्णाश्रम धर्म ही तप

वैदिक स्मृतिकारों में प्रत्येक वर्णों के कुछ विशेष कर्त्तव्य नियत किये गए हैं। उनका पालन करना भी तपश्चर्या है।[49] मनुस्मृति में वर्णित चारों वर्णों के कर्त्तव्य इस प्रकार हैं– ब्राह्मण वर्ण के लिए वेदों का पठन–पाठन, यज्ञ करना–कराना, दान–देना–लेना ये कर्त्तव्य नियत किये गये हैं। क्षत्रिय वर्ण के

लिए प्रजारक्षण, दान, यज्ञ, वेदाध्ययन, विषयों में अनासक्ति तथा युद्ध कार्य निश्चित किये गये हैं। पशुपालन, वाणिज्य–व्यापार, कृषि, दान, वेदाध्ययन वैश्य वर्ण के कर्त्तव्य कहे गये है। इन तीनों वर्णों की सेवा करना एक मात्र कर्त्तव्य शूद्र के लिए निश्चित किया गया है।[50] अपने कर्त्तव्यों का यथाशक्ति पालन करना, उसमें कभी भी दोष न आने देना यह वस्तुतः कठिन कार्य है। इसलिए इन कर्त्तव्यों को तप रूप में अभिहित किया गया है।

निष्कर्ष

तप का मूल संयम है या इच्छाओं का यथावश्यक नियन्त्रण है। संयममय जीवन ही वर्तमान व भावी सुखमय जीवन का आधार बनता है। इसी दृष्टि से 'संयमः खलु जीवनम्' यह उक्ति प्रसिद्ध हुई है। भगवद्गीता के मत में तप एक ऐसा कार्य है, जिसे कभी छोड़ा नही जा सकता अर्थात् यह सभी वर्णों के लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। योग–साधना में भी क्रियायोग के रूप में तप को प्रथम स्थान दिया गया है। योगसूत्र के अनुसार तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान 'क्रियायोग' है, इनसे समायुक्त होकर ही कोई व्यक्ति योग के लिए समर्थ हो सकता है। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, अनशन आदि तप के ही भेद हैं।

दैनिक जीवन या आध्यात्मिक जीवन दोनों दृष्टियों से तप की उपादेयता निरपवाद सिद्ध होती है। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से तप में अनशन का विशेष महत्त्व है, इसी तरह स्वाध्याय रूप तप का भी ज्ञानार्जन की दृष्टि से महत्त्व सर्वविदित है। तप ही ऐसा साधन है, जिससे लोकों पर विजय प्राप्त होती है। ज्यों–ज्यों तप की मात्रा बढ़ती है, मानव उच्चतर लोकों को जीतता है और इस लोक में भी श्रेष्ठतर हो जाता है। निष्कर्षतः तप की उपादेयता जीवन के हर क्षेत्र में सिद्ध होती है। यह सिद्ध होता है कि हमारा समस्त धार्मिक पुरुषार्थ तप की परिधि में आता है। वर्णाश्रम धर्म–पालन को 'तप' कहा गया है, जिसमें शास्त्रोक्त सभी कर्म हमारे जीवन को तपोमय बनाते हैं। इनमें ब्रह्मचर्य व स्वाध्याय विशिष्ट तप है, जिनसे हमारा व्यक्तित्व सुसंस्कृत, सदाचारी व तेजस्वी बनता ही है। जीवन में तप की उपादेयता को समझें और इसे आचरण में उतारें, यह भारतीय संस्कृति का सन्देश है।

संदर्भ :

1. ऋग्वेद 10/129/3
2. ऋग्वेद, 10/154/2
3. अथर्ववेद, 11/5/11 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'।
4. शतपथ ब्राह्मण (3/4/4/27) 'तपसा वै लोकं जयन्ति'।
5. मनुस्मृति 11/236–237, 243
6. महाभारत, शान्तिपर्व, 161/1,5,10,13

7. महाभारत, अनु. पर्व, 57/8–10, 118/2, शान्ति पर्व, 200/3
8. महाभारत आदि पर्व 90/22
9. ऋग्वेद 10/129/3
10. तैत्तिरीय आरण्यक (8/6)
11. तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/2/9)
12. मनुस्मृति 1/33–44
13. महाभारत, शान्ति पर्व 161/2–3
14. अथर्ववेद 11/5/17 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति'
15. अथर्ववेद 11/5/18–ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'
16. महाभारत शान्ति पर्व, 225/12
17. मनुस्मृति 2/164,166, गीता 17/15
18. मनुस्मृति 2/266–229
19. गीता (18/41)
20. मनुस्मृति (12/31)
21. गीता 18/5
22. योग सूत्र 2/1
23. योगसूत्र 4/1, 3/45, 2/43
24 वा.रा. 1/63/1
25. वा.रा. 1/63/23–24
26. भगवद्गीता 17/14–16
27. गीता, 17/4
28. मनुस्मृति, 1/96
29. मनुस्मृति, 1/98–99)
30. मनुस्मृति, 2/144,226
31. विष्णुधर्मोत्तरपुराण 3/249/6
32. अथर्ववेद 15/5/17
33. महाभारत, अनु, पर्व 75
34. मनुस्मृति 3/164
35. मनुस्मृति, 2/166
36. मनुस्मृति, 2/226–229
37. योगसूत्र, 2/38– ''ब्रह्मचर्य–प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।''
38. महाभारत अनु. 115/23, 116/28
39. योगसूत्र, 2/35
40. मनुस्मृति 2/159–160
41. योगदर्शन (2/3 सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति')।
42. महाभारत 12/162/8–9
43. मनुस्मृति 4/138
44. योगशास्त्र, व्यास भाष्य 2/1
45. तैत्तिरीय आरण्यक 2/14
46. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/1

47. योग सूत्र 2/44
48. मनुस्मृति 2/160
49. मनुस्मृति, 11/236
50. मनुस्मृति 1/88–91; महाभारत शा. पर्व 160/1–4

संदर्भ ग्रंथ :

1. ऋग्वेदसंहिता, प्रकाशकः नाग प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1996 ई.
2. अथर्ववेदसंहिता, प्रकाशकः नाग प्रकाशन, दिल्ली, ई. 1994
3. शान्तिपर्व (महाभारत, पंचम खण्ड), हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, सं. 2044
4. अनुशासन पर्व (महाभारत, षष्ठ खण्ड), हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, सं. 2044
5. उपनिषत्संग्रह : प्रकाशनः मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
6. मनुस्मृति– सं. डॉ. चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1995
7. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2044, षष्ठ संस्करण।
8. श्रीमद्भगवद्गीता– अनु. श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2044
9. पातजलयोगसूत्रम्, सं. डॉ रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1978।
10. पातंजलगदर्शनम्, भाष्यादि सहित, सं. श्रीनारायण मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1981, द्वितीय संस्करण

****